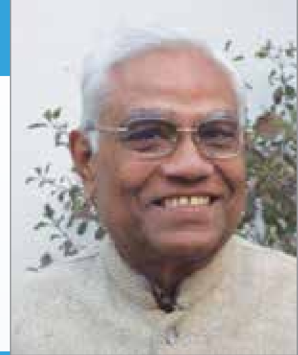
शिक्षा के साथ रोमांस

शरद चन्द्र बेहार



मुझे प्रेम है अधिगम से। अधिगम या सीखना शिक्षा का हृदय है, उसकी आत्मा है। यही कारण है कि मैं जीवन भर शिक्षा से प्रेम करता रहा – फिर चाहे वह शिक्षा औपचारिक हो, गैर–औपचारिक हो और या फिर अनौपचारिक। चलिए, मैं आपको शिक्षा के साथ अपने प्रेम–संसार की छोटी–सी झलक दिखाता हूँ जो चुनौतियों से भरपूर होते हुए भी बेहद सन्तोषप्रद है। यह यात्रा कभी–कभी तो बहुत निराशाजनक होती थी, इतनी कि लगता था मानो इसका कोई अन्त ही नहीं है, कोई इलाज नहीं है। लेकिन जब बादल छँटते तो आशा और उत्साह का सूरज ऐसी उज्जवल आभा लेकर आता जैसी दोपहर के सूरज में होती है। अपने सहपाठियों, जूनियर और सीनियर साथियों के अधिगम को सुगमीकृत करने का सिलसिला तीसरी कक्षा से शुरू हुआ और जब तक मैं विद्यार्थी रहा तब तक यह सिलसिला चलता रहा। उसमें खुशियों और निराशाओं से भरे जो दिलचस्प अनुभव मुझे हुए, उनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं कर रहा।

लेकिन इस अवधि में हुए उन दो अनुभवों का जिक्र करना चाहूँगा जब मैंने औपचारिक रूप से शिक्षक की भूमिका निभाई। 1954–55 में जब मैं कक्षा XI का विद्यार्थी था तब सरकारी हाईस्कूल में वार्षिक स्वशासन दिवस मनाया गया। विद्यालय संसद का मुख्यमंत्री होने के नाते मुझे एक दिन के लिए प्रधानाध्यापक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस दिन मैंने आठवीं कक्षा को अँग्रेजी पढ़ाई। आत्म–मूल्यांकन के द्वारा एक उत्कृष्ट शिक्षक की सन्तोषजनक भूमिका निभाने से जो प्रसन्नता मुझे मिली वह एक दिन के लिए प्रधानाध्यापक बनने के गौरव से कहीं अधिक थी।

औपचारिक शिक्षा के साथ इस अस्थायी प्रेम के बाद मेरा ज्यादा लम्बा चक्कर विद्यालय शिक्षक के रूप में चला। 1957–59 के दौरान, एक स्नातक कोर्स के विद्यार्थी के रूप में मैंने अपने ही हिस्लप कॉलेज में रात को चलने वाले स्कूल में अँग्रेजी पढ़ाने की पेशकश की, इसकी प्रेरणा शायद मुझे इस बात से मिली कि मैंने विद्यालय में वार्षिक स्वशासन दिवस को आठवीं कक्षा को अँग्रेजी पढ़ाई थी और उस अनुभव से मुझे परम आनन्द प्राप्त हुआ था। सरकारी सहायता प्राप्त लेकिन निजी तौर पर प्रबन्धित हिस्लप कॉलेज नागपुर द्वारा रात को चलाया जाने वाला विद्यालय ड्रॉप–आउट विद्यार्थियों के लिए था। उनमें से ज्यादातर विद्यार्थी शहर या शहर के आसपास की कपास मिलों या अन्य उद्योगों में काम करने वाले किशोर और वयस्क श्रमिक थे। मैंने नवीं और दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों के साथ शिक्षण–अधिगम का बड़ा आनन्द लिया और अपने को एक अच्छा शिक्षक समझने की आत्म–छवि भी प्रबलित हुई। तब मुझे न तो शिक्षा के क्षेत्र में मौजूद असमानता की समझ थी और न ही इस बात की समझ थी कि कठोर औपचारिक विद्यालय प्रणाली सामाजिक व आर्थिक रूप से वंचित लोगों के लिए कितनी अनुपयुक्त थी। लेकिन इस बात को लेकर मन में बहुत बेचैनी और गहरी चिन्ता अवश्य थी कि कहीं आगे चलकर भी इन लोगों को शिक्षा सम्बन्धी अभावों का सामना तो नहीं करना पड़ेगा जिसे अब तक ये लोग झेलते आ रहे थे।

रात को चलने वाले इस स्कूल के अधिकांश विद्यार्थी मराठी भाषा भाषी थे। मराठी भाषा में सक्षम होने की बात तो छोड़िए, मुझे तो मराठी बिल्कुल नहीं आती थी। ऐसी स्थिति में मैंने मराठी भाषा का प्रयोग किए बिना एक अन्य भाषा, तिस पर एक विदेशी भाषा, के अध्यापन के तरीकों के बारे बहुत कुछ ऐसा सीखा जिससे विद्यार्थियों को केवल पाठ्यपुस्तकों के अध्यायों की सामग्री में ही नहीं अपितु अँग्रेजी भाषा में भी प्रवीणता हासिल हो सके। इस चुनौती के साथ में शिक्षक और शिक्षार्थियों दोनों की निराशाएँ भी थीं, लेकिन ये कमी उस यूरेका पल से तब पूरी हो जाती थी जब मैं उनकी आँखों में उपलब्धि की चमक देखता और चेहरे के हावभाव यह दर्शाते कि वे भी उस उपलब्धि से प्रसन्न हैं। क्षण भर की यह खुशी पहले किए गए कई प्रयासों की विफलता की निराशा को दूर करने और मेरी रचनात्मकता (जो शायद मुझमें थोड़ी–बहुत थी) को अधिकाधिक बढ़ाने के लिए पर्याप्त थी।

स्वैच्छिक रूप से एक विद्यालय का शिक्षक बनने से लगाकर मध्यप्रदेश के सिहोरा उप–संभाग (जिसमें जबलपुर जिले के चार सामुदायिक विकास खण्ड निहित थे) में एक प्रबन्धक, प्रशासक और ग्रामीण क्षेत्र के लगभग 500 विद्यालयों के मुखिया के रूप में काम करने का कारण यह था कि मैं 1961 में भारतीय प्रशासनिक सेवा में शामिल हो गया और 1963 में एस.डी.एम. के पद पर नियुक्त किया गया (1965 तक इस पद पर रहा)। यह वह समय था जब विद्यालय शिक्षा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण प्रणाली का एक घटक थी जिसमें जनपद सभा, जो उप–संभागीय स्तर पर एक निर्वाचित निकाय थी, के पास विकास के लगभग सभी क्षेत्रों में काफी व्यापक शक्तियाँ और कार्य थे। एस.डी.एम. होने के नाते, कानूनन मैं उसका मुख्य कार्यकारी अधिकारी भी था। अतः मुझे प्रशासन के जमीनी स्तर पर विद्यालय शिक्षा के लिए कार्य करने और उसका अनुभव करने का उल्लेखनीय अवसर मिला।

राज्य की जिस नीति को मुझे लागू करना था उसमें न तो साम्यता के जटिल मुद्दों को लेकर कोई सरोकार था और न ही सबके नामांकन, उपस्थिति और भागीदारी के बारे में कोई चिन्ता। स्याही के सूखते ही शायद संविधान के अनुच्छेद 46 को भुला दिया गया था। मैंने भी बेध्यानी से वंचित लोगों की चिन्ता किए बिना केवल उन लोगों की शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के लिए ही कार्य किया जो विद्यालय में थे। पीछे मुड़कर देखने पर मुझे यह बात बहुत शर्मनाक लगती है क्योंकि इसका मतलब तो यह हुआ कि मैंने रात में चलने वाले स्कूल में शिक्षा के क्षेत्र में असामनता का जो पाठ पढ़ा था उसे मैं पूरी तरह से आत्मसात नहीं कर पाया था। यह विडम्बना ही तो है कि उस समय सरकार के उच्च पदों पर जो लोग थे उनमें से अधिकांश स्वतंत्रता सेनानी थे और समाज के शक्तिशाली और मुखर वर्गों की माँग तथा एजेण्डा के द्वारा ही भिन्न–भिन्न मात्रा में आदर्शवाद चालित किया जा रहा था। लेकिन फिर भी गाँधी जी के इस मंत्र को पूरी तरह से भुला दिया गया था कि सर्वाधिक वंचित वर्ग की आँखों से आँसू पोंछने पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

मैं यह देखकर बहुत उत्साहित हुआ कि जनपद के अध्यक्ष और शिक्षा समिति के अध्यक्ष भी शिक्षा में गहरी रुचि रखते थे। मुझे उम्मीद थी कि उनके समर्थन से मैं चमत्कार कर दिखाऊँगा। लेकिन मुझे जल्द ही पता चल गया कि उनकी रुचि सतही थी या यूँ कहूँ कि अध्यापकों के स्थानान्तरण तक ही सीमित थी। हालाँकि इसके पीछे की गतिविधियों को समझने में मुझे काफी वक्त लगा। धीरे–धीरे मुझे राजनीतिक शक्ति और शिक्षक का महत्त्व समझ में आने लगा और उनकी सीमित रुचि की बात भी समझ में आई, लेकिन इसी बात ने मेरा काम भी आसान कर दिया। मैंने खुद को अध्यापकों के स्थानान्तरण के मामलों से दूर रखा और गुणवत्ता में सुधार लाने पर ध्यान केन्द्रित किया और मैं मानता हूँ कि यह बात आज की तुलना में तब बहुत सन्तोषजनक थी। विद्यालय में सांस्कृतिक और खेलकूद सम्बन्धी जीवन्त कार्यकलाप हुआ करते थे जिनमें मुझे भी बहुत रुचि थी। अतः मैंने इनके लिए आवश्यक थोड़ी–सी वित्तीय सहायता और अन्य प्रकार की सहायता के साथ विभिन्न विद्यालयों में इन कार्यकलापों को प्रोत्साहित किया। आज जब इसके बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि चूँकि उन दिनों में न तो टी.वी. था और न ही फिल्मों की इतनी गहरी पैठ थी, इसलिए कला व संस्कृति के लोक रूप पाठ्य सहगामी क्रियाकलापों के साथ बड़ी आसानी और सुचारु रूप से घुल–मिल गए और बेहद लोकप्रिय भी हुए।

राजनीति में अध्यापकों की अद्वितीय और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका को शिक्षा में तथाकथित मिशनरी उत्साह के साथ शामिल लोगों की बनिस्पत राजनीतिज्ञ ज्यादा बेहतर तरीके से समझते हैं और मान्यता देते हैं। किसी सुधार या दखल के डिजाइन और उसकी शुरुआत करने में इस बात की उपेक्षा करने का मतलब है कि उस दखल का डी.एन.ए. दोषपूर्ण है। यह सीख मेरे बाद के कैरियर में बहुत उपयोगी रही, लेकिन मैं यह दावा नहीं कर सकता कि प्रधान शिक्षा सचिव के रूप में या एकलव्य के संस्थापक निदेशक के रूप में किए गए नवाचारों में मैं इन बातों का सामना सफलतापूर्वक कर पाया।

शिक्षा के क्षेत्र में मेरी असामान्य रुचि के दो अप्रत्याशित प्रतिकूल परिणाम थे। मैं यह नहीं जान पाया कि रूढ़िवादी प्रशासन के लिए शिक्षा के क्षेत्र में कितना भी उत्कृष्ट कार्य क्यों न किया जाए, वह बेकार ही होता है क्योंकि इसमें फोकस कट्टर प्रशासनिक ढाँचे पर होना चाहिए। मैं अपने बॉस जिला मजिस्ट्रेट श्री आर.एस. नायडू, का शुक्रगुजार हूँ कि मैं अपनी वार्षिक आकलन रिपोर्ट में एक प्रतिकूल टिप्पणी से बाल–बाल

बचा। श्री आर.एस.नायडू एक बेहद अनुभवी और समर्थ अधिकारी थे और उन्हें मुझसे बहुत स्नेह और लगाव था। मेरे आत्म–मूल्यांकन की रिपोर्ट और शिक्षा के क्षेत्र में मेरी उपलब्धियों को देखते हुए उन्होंने केवल मौखिक रूप से मुझे चेतावनी दी और मुझे एक सही प्रशासनिक लेंस प्रदान किया – प्राथमिकता और ध्यान केन्द्रण को निर्धारित करने के लिए मापदण्ड।

उन दिनों जब सब–डिवीजनल मजिस्ट्रेट जैसे अधिकारी समाचार पत्रों में समाचार का विषय नहीं बने थे, तब पहली बार मेरा इस अद्वितीय गौरव से सम्मानित होना अत्यधिक प्रतिकूल बात थी। समाचार में बताया गया था कि मेरे गुस्से, अनियंत्रित रूप से डाँटने–फटकारने और व्यवहार की वजह से जनपद सभा के अधीक्षक को दिल का दौरा पड़ा था। अपने जानने वालों में आमतौर पर मेरी छवि एक अत्यन्त कोमल, सौम्य, दयालु और सहिष्णु व्यक्ति की थी और चूँकि समाचार पत्र में दर्शाई गई छवि इसके एकदम विपरीत थी, अतः लोगों को समझाना बहुत कठिन था, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि यह घटना अतिशयोक्तिपूर्ण किन्तु सच्ची थी।

वार्षिक टूर्नामेंट के लिए विभिन्न विद्यालयों से विद्यार्थी आए हुए थे। उद्घाटन की पिछली रात को लगभग साढ़े नौ बजे छात्रावास में मैं खुद यह देखने गया कि अधीक्षक और उनकी टीम ने सारे प्रबन्ध ठीक से कर दिए हैं या नहीं। शायद ऐसा करना एस.डी.एम. और सी.ई.ओ. के लिए एक अपरम्परागत और अप्रत्याशित बात थी। वहाँ मैं यह देखकर हैरान रह गया कि जो विद्यार्थी उप–सम्भाग के विभिन्न भागों से उन दिनों की खराब सड़कों पर बहुत लम्बी और कठिन यात्रा करके आए थे, उन्हें भोजन नहीं दिया गया था क्योंकि खाना अभी पक रहा था, लेकिन अधीक्षक महोदय अपनी टीम के साथ मजे लेकर ऐसा शानदार नाश्ता कर रहे थे जिसे फैशनेबल भाषा में हाई टी कहा जाता है। मैं मानता हूँ कि इस नृशंस व्यवहार को देखकर मैं पूरी तरह से अपना आपा खो बैठा। मैं बड़ी ऊँची आवाज में चिल्लाने लगा और अपने गुस्से को बड़ी अच्छी तरह या यूँ कहूँ कि बड़ी बुरी तरह से व्यक्त करने लगा। वे स्पष्टीकरण देने की कोशिश करते तो मेरा पारा और चढ़ जाता क्योंकि मुझे पूरा यकीन था कि जो कुछ मेरी नजरों के सामने हो रहा था उसके लिए कोई भी स्पष्टीकरण विचारणीय या स्वीकार्य नहीं हो सकता था। कुछ ही मिनटों में उन्होंने दिल की धड़कनों के बढ़ने की शिकायत की और कमरे से बाहर चले गए। बच्चों के लिए जल्द से जल्द भोजन की व्यवस्था करने का जिम्मा अब मेरे ऊपर था।

मैं अपनी युवावस्था (तब मेरी उम्र सिर्फ 23 साल की थी) या अनुभवहीनता को दोष नहीं देता। दरअसल मैं भूखे बच्चों को देखकर परेशान हो गया था। मुझे उनसे इतनी संवेदना हो रही थी कि मुझे वे बुजुर्ग अधीक्षक किसी राक्षस का अवतार लग रहे थे और मैं यह कल्पना ही नहीं कर पाया कि उन पर मेरे गुस्से का क्या प्रभाव पड़ सकता है या उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी। अब मुझे लगता है कि शायद एक अनुभवी डिप्टी कलेक्टर इन स्थितियों से बेहतर तरीके से निपटता। इसका फैसला मैं आप पर छोड़ता हूँ। नौकरशाही के साथ मेरा यह पहला सम्पर्क बहुत विक्षुब्ध करने वाला था।

जून 1966 में मेरी नियुक्ति सीधी के जिला मजिस्ट्रेट के रूप हुई जहाँ मैं 1968 तक रहा। यह जिला पिछले दो वर्षों से तीव्र सूखे की चपेट में था और दुर्भाग्य से उस वर्ष भी मानसून की विफलता के कारण लगातार तीसरे वर्ष भी सूखे से संघर्ष जारी रहा। वहाँ हुए अनुभव (इसका विस्तृत ब्यौरा रमेश अरोड़ा और सी.के. सलदाना द्वारा सम्पादित पुस्तक 'District Collectors, Recollect' में उपलब्ध है) के आधार पर मैं यह दावा कर सकता हूँ कि खाद्यान्न की बहुत कम आपूर्ति होते हुए भी मैंने सूखे की स्थिति का प्रबन्धन दक्षता के साथ किया। फिर भी शिक्षा का आकर्षण इतना तीव्र था कि सूखे के प्रबन्धन की भारी व्यस्तता के बावजूद मैंने बड़े जोर–शोर से शिक्षा के क्षेत्र में हाथ डाला।

यह एक आदिवासी बहुल जिला था। आदिवासी क्षेत्र में यात्रा करते समय मैंने यह तय कर लिया था कि वहाँ के विद्यालयों का दौरा करूँगा। मुझे जल्द ही पता चल गया कि उन प्राथमिक विद्यालयों की शिक्षा की गुणवत्ता कितनी दयनीय है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वहाँ गुणवत्ता नाम की कोई चीज थी ही नहीं। कक्षा पाँच के विद्यार्थी न तो पढ़ सकते थे और न ही लिख पाते थे। इस बात के लिए शिक्षक अपने पूर्ववर्तियों को दोष देते। सिहोरा के विद्यालयों की गुणवत्ता के विपरीत इन विद्यालयों में शिक्षा की खराब गुणवत्ता ने बड़ी नाटकीयता के साथ उपेक्षित क्षेत्रीय असमानता को उजागर किया। मैंने उन दिनों के शिक्षा प्रमुख अर्थात लोक शिक्षण के निदेशक को इस क्षेत्र में विशेष ध्यान देने और सुधारात्मक कदम उठाने के लिए पत्र लिखा।

लेकिन मुझे निराश होना पड़ा क्योंकि पत्र का कोई जवाब नहीं आया। अफसोस की बात यह थी कि सूखे की स्थिति से निपटने में पूरी तरह से व्यस्त होने के कारण मुझे अपने प्रयासों को आगे बढ़ाने का समय नहीं मिल पाया।

शिक्षा के क्षेत्र में एक अन्य दखल का सोपानी प्रभाव पड़ा। इसकी कहानी लम्बी है। इसमें मुझे अकल्पनीय झटकों और आश्चर्यों का सामना करना पड़ा। मैं इस कहानी को यथासम्भव संक्षेप में कहूँगा। सीधी और पड़ोसी जिले परीक्षाओं के दौरान सामूहिक रूप से होने वाली नकल के लिए कुख्यात थे। मैंने साफ–सुथरे ढंग से परीक्षाओं के संचालन को सुनिश्चित करने का फैसला किया। जिले के मुख्यालय में माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की परीक्षाओं में मैंने ऐसा करने में कुछ सफलता भी पाई थी। लेकिन विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में ऐसा करना लोहे के चने चबाने जैसा था। जिले में सिर्फ एक कॉलेज था। मैंने सागर विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार को सामूहिक नकल के बारे में लिखा और कुछ ऐसे उपाय भी सुझाए जिनकी सहायता से परीक्षाओं का संचालन निष्पक्ष तरीके से किया जा सके। जवाब में उनकी तरफ से निराशाजनक चुप्पी ही मिली। कुछ समय के बाद मेरे सुझाव के अनुसार कार्य करने की बजाय उन्होंने बस एक चिट्ठी भेज दी जिसमें मुझे परीक्षा केन्द्र का निरीक्षण करने का प्राधिकार दिया गया था। उन दिनों यह बात कल्पनातीत थी कि कोई जिला मजिस्ट्रेट परीक्षा के मामलों में कोई भूमिका निभाए। मैं अकाल के कार्यों में जरूरत से ज्यादा व्यस्त था और मैं व्यक्तिगत रूप से इस कार्य में शामिल होने का इच्छुक नहीं था। मुझे उम्मीद थी कि वे लोग मेरे सुझावों पर अमल करेंगे और अगर उन्हें किसी चीज की आवश्यकता हुई तो प्रशासन उनकी मदद करेगा। इस पहल को शुरू करने के बाद मैं पीछे हटना नहीं चाहता था क्योंकि मैं परीक्षाओं के न्यायोचित संचालन को सुनिश्चित करने के लिए बहुत उत्सुक था।

परीक्षा के सबसे व्यस्त दिन मैं अचानक निरीक्षण के लिए जा पहुँचा। वहाँ का नजारा देखकर मैं हैरान रह गया। खुले आम नकल की जा रही थी। लगभग हर विद्यार्थी ने मेज पर कुछ किताबें रखी हुई थीं और पास में रखे उनके बैग में भी किताबें थीं। जिस बड़े पैमाने पर धड़ल्ले के साथ नकल चल रही थी वह मेरी कल्पना से परे थी। मैंने सारी सामग्री जब्त कर ली। फिर 8′x4′ और 3 फीट ऊँचे बक्से में सारा सामान भरवाकर रजिस्ट्रार को भेजा और अपनी रिपोर्ट में व्यंग्य करते हुए यह सुझाव दिया कि विश्वविद्यालय के पुस्तकालय को भरने के लिए सामूहिक नकल प्रथा का लाभ लिया जा सकता है।

एक बार फिर, लम्बे समय तक मुझे विश्वविद्यालय द्वारा की जाने वाली कार्रवाई या प्रस्तावित कार्रवाई के बारे में कोई सूचना नहीं मिली। मैं सोचने लगा कि क्या विद्यालय और उच्च शिक्षा दोनों ही स्तरों पर शैक्षिक नौकरशाही इतनी अक्षम है? सामूहिक रूप से होने वाली नकल का वह नजारा एक ऐसा बुरा सपना था जो मुझे बराबर सताता रहा। इसलिए अपनी सारी व्यस्तताओं के बावजूद, परीक्षा का निष्पक्ष संचालन मेरा मिशन बन गया। अपने इस कार्य में मैंने सभी हितधारकों के साथ बातचीत करने की रणनीति को अपनाने का फैसला किया। तदनुसार मैं कॉलेज गया और विद्यार्थियों से भेंट करके उनसे अपील की कि वे नकल करना छोड़ दें क्योंकि उसमें उनका ही हित है क्योंकि अच्छी तरह से पढ़कर वास्तविक उपलब्धि के आधार पर अंक और प्रमाणपत्र प्राप्त करने से उन्हें अपने कैरियर और जीवन में एक सुदृढ़ स्थान मिलेगा। लेकिन जिस निर्लज्जता से उन्होंने अपनी आर्थिक हालत और अन्य चतुराई से भरे तर्क देकर नकल के समर्थन में मजबूत और निश्चयात्मक रूप से दलीलें दीं, उन्हें देखकर मैं भौंचक्का रह गया क्योंकि यह सब मेरी कल्पना से परे था। फिर माता–पिता के साथ एक बैठक हुई लेकिन विद्यार्थियों ने उन्हें वहाँ से भगाकर उसे भी निष्फल कर दिया। अध्यापकों ने भी विद्यार्थियों से होने वाले खतरे के मद्देनजर अपनी लाचारी व्यक्त की। मैंने उन्हें पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया लेकिन वे संतुष्ट नहीं हुए। उनका तर्क यह था कि यह सुरक्षा उन्हें जीवन भर के लिए थोड़ी न मिलेगी क्योंकि जैसे ही सुरक्षा हटेगी वैसे ही उन पर आघात होगा। इस बात के समर्थन में उन्होंने ऐसे प्रोफेसरों के उदाहरण दिए जिन पर काफी समय के अन्तराल के बाद हमला किया गया था।

जब बातचीत की रणनीति नाकाम हो गई और मैं वैकल्पिक रणनीतियों की योजना बना रहा था तो अचानक एक चौंका देने वाली बात हुई। विश्वविद्यालय की चुप्पी और निष्क्रियता टूटी और उन्होंने यह निर्णय लिया कि जिले के परीक्षा केन्द्र को बन्द करके पड़ोस

के रीवा को केन्द्र बनाया जाए मानो कि जैसे वहाँ सामूहिक नकल होती ही नहीं थी, जबकि यह मानी हुई बात थी कि सभी पड़ोसी जिले इस बीमारी से समान रूप से ग्रसित थे।

इस निर्णय के कारण विद्यार्थी आन्दोलन शुरू हो गया और शहर का जीवन मानो ठहर–सा गया। अपने कैरियर में पहली और एकमात्र बार मुझे पुलिस बल का प्रयोग करना पड़ा और शहर में कर्फ्यू लगा दिया गया। ऐसे संघर्ष का अनुभव इस शहर ने पहले नहीं किया था। विद्यार्थियों ने रोगियों के जीवन के लिए आवश्यक ऑक्सीजन सिलेण्डरों को अस्पताल ले जाने वाले रास्तों तक को बन्द कर दिया। अन्ततः एक लचीली और आमने–सामने की बातचीत, सहायतापूर्ण मध्यस्थता और पुलिस बल की रणनीति अपनाई गई और दस दिनों बाद यह आन्दोलन समाप्त हो गया। जिन लोगों को सीमित पुलिस बल और सीमित संसाधनों की मदद से एक छोटे से शहर की कानून और व्यवस्था की स्थिति से निपटने का अनुभव न हो, वे उस कार्य की कठिनाई की कल्पना तक नहीं कर सकते। अधिकांश रातें अगले दिन की रणनीतियाँ बनाने में निकल जातीं और दिन सक्रिय गतिविधियों से भरपूर होते। यह सब समाप्त होने तक हममें से जो लोग इस कार्य में प्रत्यक्ष रूप से शामिल थे, वे पूरी तरह से थक चुके थे।

मुझे इससे पहले इतना गुस्सा कभी नहीं आया था, इतनी निराशा कभी नहीं हुई थी जितनी तब हुई जब आन्दोलन की समाप्ति के बाद मुझे विश्वविद्यालय से एक पत्र मिला। इसमें यह बताया गया था कि जिस दिन आन्दोलन शुरू हुआ उसी दिन विश्वविद्यालय की कार्यकारी समिति ने यह निर्णय लिया था कि सीधी में परीक्षा केन्द्र को बन्द करने के फैसले को संशोधित करके उसे फिर से बहाल किया जाए। क्या विश्वविद्यालय नौकरशाही की यह लापरवाही क्षमा के योग्य थी, खासकर तब जब वे उस आन्दोलन की बिगड़ती हालत के बारे में पूरी तरह से जानते थे जो एक बड़ी खबर बन चुकी थी? यदि यह सूचना हमें टेलीफोन पर तुरन्त दे दी जाती तो आन्दोलन पहले ही दिन समाप्त हो जाता। विश्वविद्यालय नौकरशाही की इस अक्षम्य और घोर असंवेदनशीलता के कारण कानून और व्यवस्था से निपटने वाली पूरी टीम, विद्यार्थियों और पूरे शहर को इस असाधारण (उनके लिए) मानसिक तनाव और कठिनाई का सामना करना पड़ा।

अन्त में, मैं आपके साथ एक तथ्य और एक रहस्य बाँटना चाहता हूँ। तथ्य यह है कि सामूहिक नकल के बारे में ठोस सबूत होते हुए भी विश्वविद्यालय के इस प्रकार के निर्णय ने विद्यार्थी वर्ग के असामाजिक तत्वों का हौसला बढ़ाया, जिन्होंने अगली परीक्षा में (मैं तब तक एक अन्य जिले में चला गया था) उस इमारत को आग लगा दी जहाँ प्रश्न पत्रों को सुरक्षित रखा गया था और इस कृत्य ने कानून और व्यवस्था की एक नई समस्या को जन्म दिया जिसका निपटान मेरे उत्तराधिकारी को करना पड़ा।

रहस्य यह है कि मेरी पहल और सामूहिक नकल की प्रथा पर अंकुश लगाने के कारण उस जिले से मेरा तबादला कर दिया गया। यह पता चला कि जिले के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक नेता इस प्रथा को जारी रखने के पक्ष में थे।

लेकिन मुझे कोई पछतावा नहीं : ये सारे अनुभव शिक्षा के साथ अपने रोमांस को जारी रखने में अत्यन्त उपयोगी रहे।

एस.सी. बेहार अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के निदेशक मण्डल के सदस्य हैं। वे मध्य प्रदेश सरकार के पूर्व मुख्य सचिव हैं। उनका शिक्षा के क्षेत्र के साथ करीबी सम्बन्ध है। शिक्षा, लोक प्रशासन तथा सामाजिक सरोकार के अन्य मुद्दों पर उनके 150 से अधिक पेपर प्रकाशित हो चुके हैं। वे एकलव्य के संस्थापक निदेशक रहे हैं जो शैक्षिक अनुसंधान और नवाचारों के लिए एक स्वैच्छिक संगठन है, साथ ही वे गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति भी हैं। सेवानिवृत्ति के पश्चात वे माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान कर चुके हैं। उनसे behar@azimpremjifoundation.org अथवा sharadbehar@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल